महाभोज

डॉ.गीता संतोष यादव

सहायक प्राध्यापिका,

एस.एम.आर.के.महिला महाविद्यालय

नाशिक-४२२००५ .

हिंदी साहित्य साठ के दशक के बात आमतौर पर मोहभंग के कारण ऐसी अवस्था में था जहाँ बाहरी सामाजिक जीवन के स्थान पर व्यक्ति के आतंरिक जगत का मनोविश्लेषणवादी तथा अस्तित्ववादी विश्लेषण प्रमुख हो गया था | १९६७ के बाद से भारतीय राजनीती में तेजी से स्थितियाँ बदलने लगीं | महाभोज में लेखिका ने बयावः होते हुए ईएसआई यथार्थ को समझने का ईनामदार प्रयास किया है |

महाभोज के प्रतिपाद्य को समझने के लिए लेखिका के दृष्टिकोण को समझना आवश्यक है | यह दृष्टिकोण उपन्यास की भूमिका तथा समर्पण के वक्तव्यों से स्पष्ट होता है | लेख्हिहिकाका की मान्यता है कि हमारा परिवेश ही हमारे व्यक्तित्व और नियति को निर्धारित करता है | लेखिका स्पष्ट कहती हैं कि इस परिवेश के प्रति किसी भी दायित्वशील व्यक्ति को जवाबदेही महसूस करनी चाहिए | वे उपन्यास की भूमिका में लिखती है कि – "संभवत: इस उपन्यास की रचना के पीछे यही प्रश्न रहा हो | इसे मैं अपने व्यक्तित्व और नियति को निर्धारित करने वाले परिवेश के प्रति ऋणशोध के रूप में देखती हूँ |"

ऐसा नहीं है कि लेखिका व्यक्तित्व को त्याज मानती हैं | उनकी मान्यता है कि यदि हमारा परिवेश स्वस्थ हो तो प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत और आतंरिक पक्षों पर ध्यान देने का पूरा अधिकार हैं | किंतु, यदि परिवेश स्वस्थ नहीं है तो समाज का सदस्य होने के नाते प्रत्येक व्यक्तिका प्राथमिक दायित्व बनता है कि वह पहले परिवेश के लिए चिंतित हो | भूमिका में उनका कथन हैं – "जब घर में आग लगी हो तो सिर्फ अपने अंतर्जगत में बने रहना या उसी का प्रकाशन करना क्या खुद ही अप्रासंगिक, हास्यास्पद और किसी हदतक अश्लील नहीं लगने लगता |" 'महाभोज में रचनाकार ने अपने समय के तमाम अँधेरे को व्यक्त करने का प्रयास किया है | आजाद हिंदुस्तान में आजादी के सपनों की मौत कैसे हुई है, नई-नई शक्तियों ने देश को कैसे बाँटा हैं, नए नेतृत्व ने किस प्रकार लोकतंत्र का मखौल बनाया है, सामाजिक जीवन में सकारात्मक परिवर्तनों को किस प्रकार रोका गया है तथा इन सारे अंधेरों के बावजूद किस प्रकार स्थितियों के समाधान की संभावना बची हुई है, इस संश्लिस्ट यथार्थ को रचना में चरित्रों व घटनाओं की परस्पर अंतर्क्रियाओं के माध्यम से उभारा गया है |

राजनीतिक विकृति:

महाभोज की मूल समस्या राजनितिक विकृति की है | भारत की स्वाधीनता के बात लोकतंत्र स्थापित हूआ किंतु लोकतंत्र धीरे-धीरे कैसे भीड़तंत्र में बदलता गया, यह उपन्यास बार-बार इस प्रश्न को उठता है | लोकतंत्र के आने के बाद भारत के इतिहास में ऐसा पहलीबार हुआ कि राजनीति सामाजिक जीवन की धुरी बन गयी | किंतु, भारत में जिस दौर में लोकतंत्र का विकास हुआ, वह दौर आम भारतीय के लिए अशिक्षा व गरीबी का समय था | इस समय आम आदमी समानता, स्वतंत्रता, न्याय जैसे आधुनिक मूल्यों से अनभिज्ञ था | लोकतंत्र में किस प्रकार विवेकशील निर्णय लिए जाने चाहिये- वह इन बातों से बेखबर था | इसी स्थिति के कारण राजनीती में संवेदनहीन अवसरवाद पैदा हुआ, भ्रष्टाचार पनपने लगा और एक अविश्वसनीय किस्म का दिखावटी नेतृत्व विकसित होने लगा | इस रचना में राजनीतिकी संवेदनहीन अवसरवादिता को इस कथन से स्पष्ट किया है – "ज्योतिष पर अनंत विश्वास है सुकुल बाबू को | xxxx नीलम तो अभी पिछले महीने ही पहना, और देखो, रंग लाया | बिसू की मौत XXXX लगता हैं जैसे थाली में परसकर मौका आ गया उनके सामने |"

जब आम जनता अपनी परिस्थतियों के संबंध में विवेकशील निर्णय लेने में असफल सिद्ध होती है तो दिखावे की राजनीति का प्रचलन बढ़ने लगता है | राजनीति के विद्वान मानते हैं कि, औसत भारतीय राजनीति में विवेक का कम, भावना का इस्तेमाल अथिक होता है | यही कारन हैं कि चुनाव से अचानक पहले चुनाव जीतने की रणनीति सामूहिक मनोविज्ञान पर निर्भर हो जाती है और नेतृत्व वर्ग को कई झूठे नाटकों के माध्यम से जनता को आकर्षित करना पड़ता है | इसका एक बेहद जटिल प्रसंग तब सामने आता है जब दा साहब हीरा को अपनी कार में बैठते हैं – "जब दा साहब ने उसे गाड़ी में बैठने को कहा तो एकदम हकबका गया | जिंदगी में कब नसीब हुआ है उसे गाड़ी में बैठना और वह भी दा साहब की गाड़ी में | XXXX दा साहब के इस बड़प्पन के आगे सभी नतमस्तक हो आये है | बड़े-बूढों को तो शबरी और निषाद की कथाएँ याद हो आई | किसी किसी को ईर्ष्या भी हो रही है हीरा से | बेटे तो न जाने कितनों के मरते हैं – पर ऐसा मान ?"

लोकतंत्र में जैसे-जैसे दिखावा महत्वपूर्ण होता है वैसे-वैसे नेताओं का व्यक्तित्व दोगला होने लगता है | जो वह वस्तुत: सोचता हैं, उसे व्यक्त नहीं कर सकता और व्यक्त करता है, उसे महसूस नहीं करता | सफल नेता वही हैं जो व्यक्तित्व के भीतर तक ऐसे दोगलेपन का विकास करे कि उसकी वास्तविकता छिपी रहे और कृतिम आदर्श व्यक्त होते रहें | यही कारण है कि ऐसे व्यक्तित्व के स्वामी दा साहब राजनीति की बेहद उलझी हुई स्थितियों में भी सफल होते है | उनके संबंध में लेखिका कहती है – "बात को अपने से,

अपने मन में होने वाली उथल-पुथल से काटकर भी किया जा सकता है – यह गुर कोई दा साहब से सीखे |"

लेखिका उपन्यास में राजनीति के तमाम प्रसंगों को बेहद सूक्षमता के साथ व्यक्त करने में सफल हुई हैं | १९६७ से भारत की राजनीति में भ्रष्टाचार का खुला खेल सुरु हुआ और संसद धन, पद की खातिर अपने दल की विचारधारा से खुलेआम समझौता करने लगे | यह भ्रष्टाचार की मानसिकता समय के साथ-साथ बढ़ती गई और आज तो पूरे नंगेपन के साथ हमारे सामने प्रश्न बनकर खड़ी है | राव और चौधरी के माध्यम से रचनाकार ने इसे लालची मानसिकता को प्रस्तुत किया है |

सामजिक विकृति:

महाभोज मूल रूप से भारतीय राजनीति की विकृतियों पर टिपण्णी साथ ही सामाजिक जीवन के कई अन्य पक्षों पर भी विचार करता है | इस संबंध ने दो प्रसंग द्रष्टव्य हैं जो १९७० के दशक में भारतीय समाज को बुरी तरह मथ रहे थे | वे प्रसंग है – जातीय संघर्ष और गाँव शहर का द्वंद्व | पिछली एक शताब्दी में कई सामाजिक सुधार आंदोलनों के माध्यम से पूरे भारत में पिछड़ी जातिओं के जीवन को सुधरने के पुरजोर प्रयास हुए हैं | आजादी के बाद इन प्रयासों को संवैधानिक आधार मिलने लगा जिससे जातीय संघर्ष बहुत तेजी से विकसित हुआ | ७० के दशक में या जातीय तनाव अपनी चरम स्थिति में थे | इसी समय वह प्रसिद्ध बेलछी कांड हुआ जिसमे पहली बार ऊँची जातिओं के कुछ लोगों ने कुछ हरिजनों को जिंदा जला दिया था | इसी कांड से आहत होकर नागार्जुन ने 'हरिजन-गाथा' कविता लिखी थी और कहीं न कहीं इसकी परछाई महाभोज की पृष्ठभूमि का कार्य भी कर रही है | शुरू में ही यह संकेत है- "महीने भर पहले की ही तो बात है – गाँव की सरहद से जरा परे हटकर जो हरिजन टोला है, वहाँ कुछ झोपड़ियों में आग लगा दी गई थी, आदमियों सहित |"

आजाद भारत में पहली बार ऐसा हुआ कि निम्न कही जानेवाली जातियों ने सामाजिक व्यवस्था में समानता के लिए अपना दावा ठोक दिया | वर्ण व्यवस्था भारत के सामाजिक जीवन में हजारों वर्षोंसे धूरी का काम करती आई है और संस्कारों के स्तर पर औसत भारतीय के मन में बैठ चुकी है | संवैधानिक त्तौर पर समतामूलक समाज की स्थापना के बाद जैसे जैसे पिछड़े और दलित तबकों के लोगो में अपने अधिकारों की चेतना पैदा हुई, वैसे-वैसे सामाजिक संघर्ष तीव्रता से बढ़ने लगा | जो हजारों वर्षों से प्रताड़ित थे, वे और झुकने को तैयार न थे. और जिनमें हजारों वर्षो से एक श्रेष्ठता ग्रंथि पैदा हो गयी थी | वे परिवर्तनों को स्वीकार करने को तैयार न थे | यह उपन्यास जोरावर के चरित्र के माध्यम से स्पष्ट दिखता है की संक्रमण के इस काल में प्रभु वर्ग कैसे जड़ बना हुआ है | और बदलने को तैयार नहीं है | जब दा साहब जोरावर को समय के साथ चलने की सलाह देते है तो वह कहता है कि – "इन हरिजनों के बाप-दादे हमारे बाप-दादों

के सामने सिर झुकाकर रहते थे | झुके-झुके पीठ कमान की तरह टेढ़ी हो जाती थी और ये ससुरे सीना तानकर आखों में आँख गाड़कर बात करते हैं | बर्दास्त नहीं होता हमसे |"

जैसे जैसे भारतीय समाज में लोकतंत्र तथा आधुनिकता की शक्तियाँ बढ़ी हैं, वैसे-वैसे जाती व्यवस्था सामाजिक रूप में कमजोर हुई है | पर लोकतंत्र के विकास ने एक अजीब स्थिति पैदा की और जाती राजनीतिक जीवन की धुरी बन गयी | स्वस्थ्य लोकतंत्र की शर्त थी की लोक अपने हित समूह की पहचान तार्किक रूप से करें किंतु अशिक्षा जैसी स्थितियों ने जाति को ही हित समूह बना दिया | इससे जातियाँ वोट बैंक बनी | ऐसे नेता पैदा हुये जिन्होंने निम्न कही जानेवाली जातियों की भावानाओं को उभारा किंतु उनकी वास्तविक जीवन में सुधार के लिए कोई ठोस प्रयास नहीं किया | इस कारण सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया विकृतियों का शिकार हुई | उदाहरण के लिए, दा साहब हरिजनों के वोट लेकर सत्ता में पहुँचे हैं पर शुभचिंतक जोरावर के हैं | अब सरोहा के चुनाव में सुकुल बाबू हरिजनों की भावनावों में तूफान पैदा करके सत्ता में पहुँचाना चाहते हैं पर उनकी अपनी मानसिकता निम्न तबको के प्रति घृणा से भरी है |

बुध्दिजीवी वर्ग की भूमिका:

महाभोज की लेखिका ने समाज के जीवन में इन बहुआयामी विकृतियों के पैदा होने के कारणों की सम्यक खोज की हैं | उनका मानना है की यदि समाज में कहीं कुछ गलत है तो उसके पीछे एक सीमा तक बुद्धिजीवीयों का दायित्व भी है क्योंकि समाज को समुचित विचार देने का कार्य उनका ही है | यदि समाज में अँधेरा व्याप्त है तो उसे चीरने के लिए पहली चिंगारी जलाने का काम बुध्दिजीवीयों का है | लेखिका का की समस्या ठीक वही है जो 'अँधेरे में' और 'ब्रह्मराक्षस' कवितायेँ लिखते समय मुक्तिबोध के सामने हैं और वह यह की बौद्धिक वर्ग प्रायः सुविधाओं के सामने बिका हुआ है | इस उपन्यास में लोकतंत्र के चौथे स्तंभ के रूप में विख्यात पत्रकारिता के वास्तविक चरित्र का उद्घाटन किया गया है | लोकतांत्रिक सत्ता अपने रस्ते से न भटके और यदि भटके तो उसपर वैचारिक प्रहार किया जा सके – इस उद्देश्य को सामने रखनेवाली पत्रकारिता जब सत्ता की चाकर बन जाती है तो वही स्थिति बनती है जो महाभोज के दत्ता बाबू की हुई है | बिकी हुई बुद्धि किन तनाओं से ग्रस्त होती है, यह इस उपन्यास में तीखे व्यंग के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है – "रोज ही कागज रंगने वाले के लिए भी लिखना इतने संकट का काम हो सकता है, यह पहली बार महेसुस किया दत्ता बाबूने | दो लाइने लिखते और चार काटते | इस समय अपने लिखे को अपनी नजर से नहीं, वरन दा साहब की नज़रों से देखकर तौल परख रहे थे दत्ता बाबू |

बदलता